जापान में भारत

जापानियों के लिए भारत कोई नया देश नहीं। करीब डेढ़ हज़ार सालों से वे भारत को जादूगरों और हैरतअँगेज़ कारनामों का देश मानते रहे हैं।

सभी चित्र: योची यामागाटा

छठी शताब्दी में जापान एक बौद्ध देश बना। यह वह समय था जब दो मशहूर चीनी बौद्ध भिक्षु – फा ह्यान और हुन सांग भारत आए। उस वक्त भारतीय शैली में बनी बुद्ध, बोधित्सव और देवताओं की मूर्तियों व चित्रों से जापानी बड़े प्रभावित थे। कई मन्दिर भी बनाए गए। जातक कथाओं और पंचतंत्र की कहानियों की कल्पनाएँ उन्हें बड़ी भाती थीं। जापानियों को लगता जैसे भारत कोई आश्चर्यलोक हो। जैसे यह कोई देवी-देवताओं, जिन्न-भूतों जैसी ताकतों का देश हो। हम भी निन्जा और जादुई लड़कियों के जापानी मंगा कार्टूनों को देखकर जापान की भी वैसी ही छवि बना लेते हैं!

1972 में मैं भारत आया। मैं इस देश के बारे में बहुत कुछ जानना-समझना चाहता था। मैं यहाँ के लोगों से मिलना चाहता था। यहाँ की विभिन्न कलाओं को देखना चाहता था। अपनी यह इच्छा पूरी करने के लिए मैं निकल पड़ा – कलकत्ता से पुरी, कोनार्क, भुवनेश्वर, चेन्नई (तब इसे मद्रास नाम से जाना जाता था), केप कोमोरिन, केरल, मैसूर, मुम्बई, अजन्ता, एलोरा, भोपाल, साँची, खजुराहो, दिल्ली, वाराणसी, सारनाथ, पटना, नालंदा और फिर

योची यामागाटा

कलकत्ता। मैंने ये सारी यात्राएँ रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में ही कीं। आज के दूसरे दर्जे के सामान्य डिब्बे जैसा होता था यह डिब्बा। भीड़ भरा। जहाँ पाँव रखने तक जितनी जगह पाने के लिए बड़े पापड़ बेलने पड़ते थे। यह मुश्किल तो था, पर मुझे मज़ा आया। मैं लोगों के एकदम बीच में था। इस दौरान कई मज़ेदार घटनाएँ घटीं।

एक दफा मैं साँची गया। यहाँ से मुझे दिल्ली जाना था। दिल्ली की ट्रेन मुझे बीना जंक्शन (मुझे पक्का याद नहीं पर शायद यही स्टेशन था) से पकड़नी थी। जैसे ही ट्रेन रुकी मैं तीसरे दर्जे के एक डिब्बे की ओर लपका। क्या खचाखच भरा था वो! लोगों ने सलाह दी कि यहाँ तो मुश्किल है, मैं दूसरे डिब्बे में कोशिश करूँ। लेकिन वहाँ भी वैसी ही भीड़ और मारा मारी थी। लोग तो अब भी कहते रहे कि मैं तीसरे डिब्बे में देख लूँ। लेकिन अब तक मुझे यकीन हो गया था कि हर डिब्बे की यही कहानी होगी। मैंने सोचा, अगर मैं इस डिब्बे में नहीं चढ़ सका, तो किसी में भी नहीं चढ़ पाऊँगा। तो मैंने अपना सामान दरवाज़े की खिड़की से किसी तरह अन्दर फेंका। लोग चीखने-चिल्लाने लगे। पर उनकी परवाह न करते हुए अपनी चप्पलें उतारीं और अपना दायाँ पाँव खिड़की से अन्दर की ओर घुसेड़ दिया। लोग मुझ पर अब भी चिल्ला रहे थे। लेकिन मैं भी किसी तरह धक्का देते हुए अपने दाएँ घुटने को डिब्बे के अन्दर ले ही आया।

अचानक शोर थम गया। कुछ लोगों ने तो मेरा हाथ खींचकर मुझे अन्दर आने में मदद भी की। कुछ ने भीड़ को इधर-उधर कर मेरे बैठने के लिए जगह बना दी। मैं हैरान था! वही लोग जो कुछ देर पहले तक मुझे घुसने तक नहीं दे रहे थे अब इतना ख्याल रखने लगे हैं। उनके रवैये में इतना अन्तर इतनी जल्दी कैसे आया? सच्चाई क्या है?

अगर मैं किसी तरह धक्का-मुक्की करके अन्दर न आ जाता तो वहीं प्लेटफॉर्म पर खड़ा रहता। ट्रेन में बैठे स्वार्थी लोगों के प्रति गुस्से से भरा हुआ। लेकिन धक्का-मुक्की करने के बाद अन्दर आया तो इन्हीं लोगों का एक दूसरा ही रूप दिखा – स्नेह से भरा।

मैं भारत में तीन हफ्ते रहा। खूब घूमा, खूब मज़ा आया। पर मन नहीं भरा। मुझे लगा अभी तो कितना कुछ देखना बच गया है। पर, अब मैं यात्री बनकर नहीं बल्कि लोगों के बीच रहकर, उनके साथ काम करते हुए उन्हें जानना चाहता था। प्लेटफॉर्म पर खड़ा रहकर तो मैं ट्रेन को केवल बाहर से ही देख पाया था। लेकिन उसे अन्दर से, एक सवारी की तरह देखना एक अलग ही अनुभव था। मैंने सोचा कि इस तरह एक यात्री बनकर मैं भारत को भला कैसे और कितना जान पाऊँगा! इसे जानने के लिए लोगों के साथ रहना, उनके साथ काम करना होगा। हो सकता है शुरू में मुझे कुछ मुश्किलें आएँ, पर बाद में लोग मुझे स्वीकार कर ही लेंगे! भोपाल में तीन साल काम करने के बाद मैं अब यकीन से कह सकता हूँ कि मैं गलत न था!